अनौपचारिका

समकालीन शिक्षा-चिन्तन की मासिक पत्रिका

वर्ष : ४६ अंक : ०७-०८ आषाढ़-श्रावण-भाद्रपद वि.सं.-२०७६ जुलाई-अगस्त, २०२० (संयुक्तांक) पृष्ठ २८ RNI 43602/77 ISSN No. 2581-981X













आँखों में नींद नहीं है।
घेरे हुए हैं एक साथ कई दुःस्वप्न।
समय की आँखों में रेत किरकिरा रही है
वो सपने,
कब, कहाँ छूट गए, पता नहीं।
ऐसे दिन भी देखना होंगे,
सोचा न था।

प्रमोद त्रिवेदी

□

जीवन जॅखन शुकाये जाय

जीवन जॅखन शुकाये जाय,
करुणा धारा एसा।
सकल माधुरी लुकाये जाय,
गीत-सुधा-रॅसे एसो।।१।।

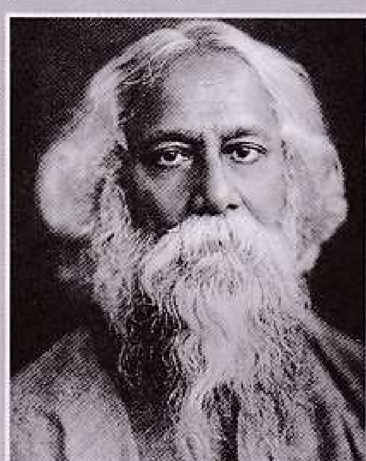
कर्म जॅखन प्रबल आकार,
गरजि उठिया ढाके चारि धार,
हृदय-प्रान्ते, हे नीरवनाथ!
शान्त चॅरणे एसो।।२।।

आपनारे जॅबे करिया कृपण,
कोणे पड़े थाके दीन हीन मन
दुवार खुलिया, हे उदार नाथ!
राज-समारोहे एसो।।३।।

वासना जॅखन विपुल धूलाय,
अन्ध करिया अबोधे भुलाय,
ओहे पवित्र! ओहे अनिद्र!
रुद्र आलोके एसो।।४।।

७ अगस्त पुण्यतिथि

पुण्य स्मरण के साथ प्रणाम निवेदित



समानो मन्त्र: समिति: समानी समानं मन: सहचित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये व: समानेन वो हविषा जुहोमि।।
समानी व आकूति: समाना हृदयानि व:।
समानमस्तु वो मनो यथा व: सुसहासति।।

ऋग्वेद

अनौपचारिका

समकालीन शिक्षा-चिन्तन की पत्रिका

वर्ष : ४६ अंक : ७-८ • आषाढ़-श्रावण-भाद्रपद वि.सं.२०७६ • जुलाई-अगस्त, २०२० (संयुक्तांक)

क्र म

आवरण : अक्षय अमेरिया

संस्थापक संपादक एवं संरक्षक : रमेश थानवी | कार्यकारी संपादक : प्रेम गुप्ता | प्रबंध संपादक : दिलीप शर्मा

वार्षिक शुल्क तीन सौ पचास रुपये | संस्थागत वार्षिक शुल्क पांच सौ रुपये | मैत्री समुदाय तीन हजार रुपये

राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति

७-ए, झालाना डूंगरी संस्थान क्षेत्र, जयपुर-३०२००४
फोन : २७००५५६, २७०६७०६, २७०७६७७
ई-मेल : raeajaipur@gmail.com

शिक्षा, सहजीवन और आजादी

मित्रो, मैं अपने आप से पूछती हूं तो दिल यह मानने को तैयार ही नहीं होता कि हम सचमुच आजाद हो गए हैं? मेरा मन यह भी प्रश्न करता है कि आजादी के बाद से हम सहजीवन के सुख को, सहजीवन के आनंद को ले पा रहे हैं। क्या सहजीवन का अर्थ अपने अस्तित्व को खोना नहीं, बल्कि साथ-साथ चल कर किसी मंजिल तक पहुंचना है। यह कोई गुलामी नहीं है और न ही इसका अर्थ साथियों पर निर्भर रहने से है।

आजादी का सही अर्थ अभय देना है निडर बनाना है। यह निडर होना केवल डर पर जीत नहीं है। यह जीत है मानसिक रूप से स्वतंत्र होने की भी। यह जीत है आत्मविश्वास की और जीत है शांति और अमन की। अभय होना अर्थात् किसी भी तरह का नुकसान होता दिखाई देता हो, हम सत्य को नहीं छोड़ सकते।

अगस्त का यह महीना आजादी का जश्न मनाने का तो है ही और साथ में रवींद्रनाथ ठाकुर को उनकी पुण्यतिथि पर याद करने का भी है। जिन्होंने हमेशा मस्तक को ऊंचा रखने की बात कही। बापू और ठाकुर दोनों ने ही किसी के भी सामने गुलामी करने और अपने आत्महंता खुद होने की बात कभी नहीं कहीं।

सच्ची शिक्षा समाज में बराबरी का दर्जा देने की बात करती है । यहां भेदभाव को कोई स्थान नहीं है। शिक्षा एक ऐसा **जागरण** है जो केवल शिक्षा भर प्राप्त कर लेना या ऊंची डिग्री हासिल करने तक सीमित नहीं है। शिक्षा अपने वास्तविक रूप में पर्यावरण की चिंता करना भी है। पर्यावरण का संरक्षण, संरक्षक होना भी है। शिक्षा की चिंता जल की चिंता भी है । यहां तक कि यह शिक्षा अपने साथियों की सुरक्षा करने की चिंता भी है । यह चिंता उन्हें स्वस्थ, सुखी और समृद्धि रखने की भी है।

यह शिक्षा जीवन की शिक्षा है। शिक्षा मनुष्य का आंतरिक उत्कर्ष है। यह उत्कर्ष केवल स्वयं का उत्कर्ष नहीं है बल्कि सहजीवन का उत्कर्ष भी है। शिक्षा का विस्तृत क्षेत्र अपने पड़ोसी से लेकर पूरे विश्व तक फैला हुआ है।

आज हमारे सामने शिक्षा की एक बड़ी चुनौती यह है कि न तो हमारी शिक्षा की सेहती ही अच्छी है और न ही हमारी सेहत। आज कोरोना की महामारी ने तो हमें आश्चर्य में डाल दिया है और हमें विवश भी कर दिया है । ऐसे में शिक्षा की सेहत तो और भी बिगड़ गई है। शिक्षा से उम्मीद की जाती रही है कि वह लोगों को विवेकवान नागरिक बनाएगी। लेकिन यह क्या हुआ कि शिक्षा स्वयं ही अपना अस्तित्व खो बैठी?

आज हम सहजीवन की बात करें तो वह तो बिखरा बिखरा सा ही दिखाई देता है। जो

कभी किसी जमाने में हमारी ताकत हुआ करता था। आज सहजीवन की बात करना हमारे दिल और दिमाग को मुश्किल में डाल देता है। आज हमें बाजारों ने इतना आकर्षित कर लिया है कि हम अकेले ही बड़ी बड़ी इमारतों और बड़ी बड़ी संपत्तियों के मालिक बन जाना चाहते हैं और हरा देना चाहते हैं अपने परिवार को, अपने कुटुंब को और इस समाज को जो हमारे अभिन्न अंग हैं, परिवारों में साथ साथ रहने को अब हम एक चुनौती समझने लगे हैं।

आज हमारे जीवन की दिशा ही बदल गई है। हमारे बापू के सपनों में जिस आजादी की बात की जा रही थी वह सर्व-धर्म एवं वसुधैव कुटम्बकम् की बात थी। जय जगत बोलने की बात थी। लेकिन आज तो हम साथ साथ हैं, कहना ही बेईमानी लगती है। आज हमारी मंशा एकल परिवार में रहने की रहती है लेकिन उसका परिणाम भी हमारे सामने है। हमने देख लिया है केवल बस विषाद ही हमें प्रसाद रूप में मिला है।

दिक्कत यह है कि हम अधर्म को धर्म मान कर लड़ रहे हैं। आज अधर्म ने धर्म का लबादा ओढ़ लिया है । आज हम छिलकों की लड़ाई में ही अटक गए हैं इसी के नाम पर खून खराबा हो रहा है । मूल पर तो ध्यान ही नहीं है। हम आपस में लड़ने पर आमादा हैं और केवल रैपर्स में ही उलझे पड़े हैं । जहां एकता है वहां तक तो हमारी दृष्टि जाती ही नहीं ,उस और तो हम देखने का प्रयास ही नहीं करते? देखते हैं वहां जहां झगड़ा होता है और हथियार निकाल लेते हैं सच बात तो यह है कि जो अधर्म है उसे गलत मानने को तैयार ही नहीं हैं।

कैसा होगा स्वतंत्र भारतीय समाज? इसके जवाब में बापू ने कहा था कि स्वाधीन भारत हिंदू राज नहीं, भारतीय राज होगा। भारत किसी भी धार्मिक भेदभाव के बिना सभी लोगों के प्रतिनिधित्व पर आधारित होगा। अर्थात् आजाद भारत लोकतंत्र पर आधारित होगा। लेकिन देखते-देखते यह क्या हुआ? लोकतंत्र 'बहुमत' यानी जनता द्वारा, जनता के लिए की नीति पर आधारित था। आज 'बहुमत के स्थान पर बहुसंख्या ने लिया है। 'राष्ट्रवाद' के शोर में 'आम नागरिक' का दम घुट रहा है।

आज तो शिक्षा स्वयं ही अपनी **हैसियत** बनाए रखने की लड़ाई खुद ही लड़ रही है। हाल ही में **नई शिक्षा नीति** हमारे सामने आई है । इस राष्ट्रीय शिक्षा नीति के लिए दावा किया जा रहा है कि यह नीति शिक्षा में क्रांति लाएगी। इस **नई शिक्षा नीति** में स्कूल से लेकर उच्च शिक्षा में बदलाव की बात कहीं गई है। कहा यह भी गया है कि इसमें कोई भेदभाव नहीं किया गया है? देखना यह है कि यह शिक्षा नीति जमीनी स्तर पर लागू कैसे की जाती है?



आखिर यह सब हम कब तक देखते रहेंगे? हमें ही इन सवालों के जवाब स्वयं खोजने हैं। ताकि ८ अगस्त, १९४२ की अगस्त क्रांति या भारत छोड़ो आंदोलन को सच्चे रूप में अपनी यादों में रख सके। 'अगस्त क्रांति' के पुण्य स्मरण के साथ 'बापू' के मानवता के कल्याण की दिशा में उठाये गये कदम आज भी जीवन्त रह सके। ❑

प्रेम गुप्ता

दबंग अभिनेत्री की आवाज





संयुक्त राष्ट्र संघ का एक समूह मानवीय बराबरी के काम करता है। उस समूह में कई देशों के कलाकार, शिक्षाविद् एवं वरिष्ठ नागरिक सदस्य हैं। सोनाक्षी सिन्हा भी उस समूह की एक सदस्य है और अधिसंख्य लोग जानते हैं कि सोनाक्षी एक दबंग अभिनेत्री है। वे अपनी बात को बिना चबाये कहती हैं और समाज के कमजोर वर्ग के साथ खड़ी रहती हैं। समता, बराबरी एवं सामाजिक न्याय के प्रति उनके मन में एक जाग्रत प्रतिबद्धता है।

पिछले दिनों सोनाक्षी ने अपने एक वक्तव्य में कहा कि समाज में असली आजादी तभी आ सकती है जब साक्षरता का व्यापक प्रचार प्रसार हो। न केवल प्रचार हो बल्कि सभी समुदाय के लोग संगठित रूप से अक्षर की ताकत पहचाने और उसे सीखकर अपने जीवन में बदलाव लाने का प्रयास करें। अक्षर सीखना एक बात है मगर उसे गले उतारना और फिर उसका जीवन में उपयोग करना आगे की बात है। आखर का निरंतर उपयोग प्रश्न पूछने के लिए किया जा सकता है। सवाल करना सदा आदमी की आजाद अस्मिता की पहचान कराता है।

सोनाक्षी न केवल यह कहती है कि अक्षर साक्षर बनकर समाज सच्ची आजादी का ऐहसास कर सकता है बल्कि पढ़लिख कर वह जन-जन से प्यार करना भी सीख सकता है। मन में एक उदार भाव जगा सकता है। ईर्ष्या और द्वेष से बच सकता है।

अपने वक्तव्य में सोनाक्षी ने यह भी कहा कि पर्यावरण को बचाने और उसकी रक्षा करने की प्रतिबद्धता भी साक्षरता जगाती है।

पाठक जानते हैं कि सोनाक्षी सिन्हा ने दबंग फिल्म के अलावा कुछ और फिल्मों में भी काम किया है और वे शत्रुघ्न सिन्हा की सुपुत्री हैं। विश्वास किया जा सकता है कि उनकी बात दूर तक पहुंचेगी। ❑

भाषा और पर्यावरण



अनुपम मिश्र

❑

सुप्रसिद्ध पर्यावरणविद् अनुपम मिश्र लम्बे समय से गांधी शांति प्रतिष्ठान से जुड़े रहे। उनकी असली शिक्षा समाज की असाधारण पाठशाला से हुई। इनकी पुस्तकें 'आज भी खरे हैं तालाब' और 'राजस्थान की रजत बूंदें' ने राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जगत में खूब ख्याति पाई है। पर्यावरण के प्रति जागरूकता पैदा करने और जन संरक्षण के क्षेत्र में योगदान के लिए इन्हें वर्ष १९९६ में इन्दिरा गांधी पर्यावरण पुस्कार दिया गया। उन्होंने कई डॉक्यूमेंट्री फिल्में भी बनाई। प्रस्तुत आलेख उनकी 'पुस्तक साफ माथे का समाज' से लिया गया है। सुधी पाठक इसको पढ़कर अवश्य ही आनन्द उठा सकेंगे, लाभ ले सकेंगे। ❑ सं.

किसी समाज का पर्यावरण पहले बिगड़ना शुरू होता है या उसकी भाषा-हम इसे समझ कर संभल सकने के दौर से अभी तो आगे बढ़ गए हैं। हम 'विकसित' हो गए हैं।

भाषा यानी केवल जीभ नहीं। भाषा यानी मन और माथा भी। एक का नहीं, एक बड़े समुदाय का मन और माथा जो अपने आसपास के और दूर के भी संसार को देखने-परखने-बरतने का संस्कार अपने में सहज संजो लेता है। ये संस्कार बहुत कुछ उस समाज की मिट्टी, पानी, हवा में अंकुरित होते हैं, पलते-बढ़ते हैं और यदि उनमें से कुछ मुरझाते भी हैं तो उनकी सूखी पत्तियां वहीं गिरती हैं, उसी मिट्टी में खाद बनाती हैं। इस खाद यानी असफलता की ठोकरों के अनुभव से भी समाज नया कुछ सीखता है।

लेकिन कभी-कभी समाज के कुछ लोगों का माथा थोड़ा बदलने लगता है। यह माथा फिर अपनी भाषा भी बदलता है। यह सब इतने चुपचाप होता है कि समाज के सजग माने गए लोगों के कान खड़े नहीं हो पाते। इसका विश्लेषण, इसकी आलोचना तो दूर, इसे कोई क्लर्क या मुंशी की तरह भी दर्ज नहीं कर पाता।

इस बदले हुए माथे के कारण हिन्दी भाषा में ५०-६० बरस में नए शब्दों की एक पूरी बारात आई है। बारातिये एक-से-एक हैं पर पहले तो दूल्हे राजा को ही देखें। दूल्हा है विकास नामक शब्द। ठीक इतिहास तो नहीं मालूम कि यह शब्द हिंदी में कब पहली बार आज के अर्थ में शामिल हुआ होगा। पर जितना अनर्थ इस शब्द ने पर्यावरण के साथ किया है, उतना शायद ही किसी और शब्द ने किया हो। विकास शब्द ने माथा बदला और फिर उसने समाज के अनगिनत अंगों की थिरकन को थामा। अंग्रेजों के आने से ठीक पहले तक समाज के जिन अंगों के बाकायदा राज थे, वे लोग इस भिन्न विकास की 'अवधारणा' के कारण आदिवासी कहलाने लगे। नए माथे ने देश के विकास का जो नया नक्शा बनाया, उसमें ऐसे ज्यादातर इलाके 'पिछड़े' शब्द के रंग से ऐसे रंगे गए, जो कई पंचवर्षीय योजनाओं के झाड़ू-पोंछे से भी हल्के नहीं पड़ पा रहे। अब हम यह भूल ही चुके हैं कि ऐसे ही 'पिछड़े' इलाकों की संपन्नता से, वनों से, खनिजों से, लौह-अयस्क से देश के अगुआ मान लिए गए हिस्से कुछ टिके से दिखते हैं।

कुछ मुट्ठी भर लोग पूरे देश की देह का, उसके हर अंग का

विकास करने में जुट गए हैं। ग्राम विकास तो ठीक, बाल विकास, महिला विकास सब कुछ लाईन में है।

अपने को, अपने समाज को समझे बिना उसके विकास की इस विचित्र उतावली में गजब की सर्वसम्मति है। सभी राजनैतिक दल, सभी सरकारें, सभी सामाजिक संस्थाएं, चाहे वे धार्मिक हों, मिशन वाली हों, या वर्ग संघर्ष वाली- गर्व से विकास के काम में लगी हैं, विकास की इस नई अमीर भाषा ने एक नई रेखा भी खींची है- गरीबी की रेखा। लेकिन इस रेखा को खीचने वाले संपन्न लोगों की गरीबी तो देखिए कि उनकी तमाम काशिशें रेखा के नीचे रहने वालों की संख्या में कमी लाने के बदले उसे लगातार बढ़ाती जा रही हैं।

पर्यावरण की भाषा इस सामाजिक-राजनैतिक भाषा से रत्ती-भर अलग नहीं है। वह हिन्दी भी है यह कहते हुए डर लगता है। बहुत हुआ तो आज के पर्यावरण की ज्यादातर भाषा देवनागरी कही जा सकती है। लिपि के कारण राजधानी में पर्यावरण मंत्रालय से लेकर हिंदी राज्यों के कस्बों, गांवों तक के लिए बनी पर्यावरण संस्थाओं की भाषा कभी पढ़ कर तो देखें। ऐसा पूरा साहित्य, लेखन, रिपोर्ट सब कुछ एक अटपटी हिन्दी से पटा पड़ा है।

कचरा-शब्दों का और उनसे बनी विचित्र योजनाओं का ढेर लगा है। इस ढेर को 'पुनर्चक्रित' भी नहीं किया जा सकता। दो-चार नमूने देखें। सन् ८० से आठ-दस बरस तो पूरे देश में सामाजिक वानिकी नामक योजना चली। किसी ने भी नहीं पूछा कि पहले यह तो बता दो कि असामाजिक वानिकी क्या है? यदि इस शब्द का, योजना का संबंध समाज के वन से है, गांव के वन से है तो हर राज्य के गांवों में ऐसे विशिष्ट ग्रामवन, पंचायती वनों के लिए एक भरा-पूरा शब्द-भंडार, विचार और व्यवहार का संगठन काफी समय तक रहा है। कहीं उस पर थोड़ी धूल चढ़ गई थी तो कहीं वह मुरझा गया था, पर वह मरा तो नहीं था। उस दौर में कोई संस्था आगे नहीं आई इन बातों को लेकर। मरुप्रदेश में आज भी ओरण (अरण्य से बना शब्द) हैं। ये गांवों के वन, मंदिर देवी के नाम पर छोड़े जाते हैं। कहीं-कहीं तो मीलों फैले हैं ऐसे जंगल। इनके विस्तार की, संख्या की कोई व्यवस्थित जानकारी नहीं है। वन विभाग कल्पना भी नहीं कर सकता कि लोग ओरणों से एक तिनका भी नहीं उठाते।

अकाल के समय में ही इनको खोला जाता है। वैसे ये खुले ही रहते हैं, न कटीले तारों का घेरा है, न दीवारबंदी ही। श्रद्धा, विश्वास का घेरा इन वनों की रखवाली करता रहा है। हजार-बारह सौ बरस पुराने ओरण भी यहां मिल जाएंगे। जिसे कहते हैं बच्चे-बच्चे की जबान पर ओरण शब्द रहा है पर राजस्थान में अभी कुछ ही बरस पहले तक सामाजिक संस्थाएं, श्रेष्ठ वन विशेषज्ञ या तो इस परंपरा से अपरिचित थे या अगर जानते थे तो कुछ कुतुहल भरे,

**अपने को,
अपने समाज
को समझे बिना
उसके विकास की
इस विचित्र उतावली में
गजब की सर्वसम्मति है।
सभी राजनैतिक दल,
सभी सरकारें,
सभी सामाजिक संस्थाएं,
चाहे वे धार्मिक हों,
मिशन वाली हों,
या वर्ग संघर्ष वाली–
गर्व से विकास के
काम में लगी हैं,
विकास की इस
नई अमीर भाषा ने
एक नई रेखा भी खींची
है– गरीबी की रेखा।**

**जात धर्म
के बंधन से
हमें चाहिए
आजादी**

शोध वाले अंदाज में। ममत्व, यह हमारी परंपरा है, ऐसा भाव नहीं था उस जानकारी में।

ऐसी हिन्दी की सूची लंबी है, शर्मनाम है। एक योजना देश की बंजर भूमि के विकास की आई थी। उसकी सारी भाषा बंजर ही थी। सरकार ने कोई ३०० करोड़ रुपया लगाया होगा पर बंजर-की-बंजर रही भूमि। फिर योजना ही समेट ली गई। और अब सबसे ताजी योजना है जलागम क्षेत्र विकास की। यह अंग्रेजी के वॉटरशेड डेवलपमेंट का हिन्दी रूप है। इससे जिनको लाभ मिलेगा, वे लाभार्थी कहलाते हैं, कहीं हितग्राही भी हैं। 'यूजर्स ग्रुप' का सीधा अनुवाद उपयोगकर्ता समूह भी यहां है। तो एक तरफ साधन संपन्न योजनाएं हैं, लेकिन समाज की कटी हुई। जन भागीदारी का दावा करती हैं पर जन इनसे भागते नजर आते हैं तो दूसरी तरफ मिट्टी और पानी के खेल को कुछ हजार बरस से समझने वाला समाज है। उसने इस खेल में शामिल होने के लिए कुछ आनंददायी नियम, परंपराएं, संस्थाएं बनाई थीं। किसी अपरिचित शब्दावली के बदले एक बिल्कुल आत्मीय ढांचा खड़ा किया था। चेरापूंजी, जहां पानी कुछ गज भर गिरता है, वहां से लेकर जैसलमेर तक जहां कुल पांच-आठ इंच वर्षा हो जाए तो भी आनंद बरस गया- ऐसा वातावरण बनाया। हिमपात से लेकर रेतीली आंधी में पानी का काम, तालाबों का काम करने वाले गजधरों का कितना बड़ा संगठन खड़ा किया गया होगा। कोई चार-पांच लाख गांवों में काम करने वाले उस संगठन का आकार इतना बड़ा था कि वह सचमुच निराकर हो गया। आज पानी का, पर्यावरण का काम करने वाली बड़ी-से-बड़ी संस्थाएं उस संगठन की कल्पना तो करके देखें। लेकिन वॉटरशैड, जलागम क्षेत्र विकास का काम कर रही संस्थाएं, सरकारें, उस निराकार संगठन को देख ही नहीं पाती। उस निराकार से टकराती हैं, गिर भी पड़ती हैं, पर उसे देख, पहचान नहीं पातीं। उस संगठन के लिए तालाब एक वॉटर बॉडी नहीं था। वह उसकी रतन तलाई थी। झुमरी तलैया थी, जिसकी लहरों में वह अपने पुरखों की छवि देखता था। लेकिन आज की भाषा जलागम क्षेत्र विकास को मत्स्य पालन से होने वाली आमदनी में बदलती है।

इसी तरह अब नदियां यदि घर में बिजली का बल्ब न जला पाएं तो माना जाता है कि वे 'व्यर्थ में पानी समुद्र में बहा रही है।' बिजली जरूर बने, पर समुद्र में पानी बहाना भी नदी का एक बड़ा काम है। इसे हमारी नई भाषा भूल रही है। जब समुद्रतटीय क्षेत्रों में भूजल बड़े पैमाने पर खारा होने लगेगा- तब हमें नदी की इस भूमिका का महत्व पता चलेगा।

लेकिन आज तो हमारी भाषा ही खारी हो चली है। जिन सरल, सजल शब्दों की धाराओं से वह मीठी बनती थी, उन धाराओं को बिल्कुल नीरस, बनावटी, पर्यावरणीय, पारिस्थितिक जैसे शब्दों से बांधा जा रहा है। अपनी भाषा, अपने ही आंगन में विस्थापित हो रही है, वह अपने ही आंगन में पराई बन रही है। ❑

आज तो हमारी भाषा ही खारी हो चली है। जिन सरल, सजल शब्दों की धाराओं से वह मीठी बनती थी, उन धाराओं को बिल्कुल नीरस, बनावटी, पर्यावरणीय, पारिस्थितिक जैसे शब्दों से बांधा जा रहा है। अपनी भाषा, अपने ही आंगन में विस्थापित हो रही है, वह अपने ही आंगन में पराई बन रही है।

बंद करें
धरती का दोहन
सुखी बनाए
सबका जीवन

शिक्षा में व्यवहार

डॉ शीला शर्मा

□

बालक क्या पढ़ें? इस सवाल का उत्तर कौन देगा? सच यह है कि बालकों का पाठ्यक्रम बनाने वाले और उनके लिए पाठ्य पुस्तकें रचने वाले सभी लोग बालकों की दुनियां में बसते ही नहीं है। वे बालकों से दूर रहते हैं। रहना चाहते भी हैं। बालकों के साथ संवाद किये बिना सबकुछ उन पर थोप देना चाहते हैं। कब तक चलेगा ऐसा? डॉ. शीला शर्मा का लिखा पढ़ लीजिए और फिर विचार मग्न हो जाइये। इससे आपके बालकों का भला ही होगा। □ सं.

व्यावहारिकता, बोधमूलकता,मूल्यपरकता इस तरह के न जाने कितने भारी- भारी शब्द आजकल पाठ्यक्रम में ठूंसे जा रहे हैं। परंतु जिस वर्ग के लिए ये शब्द लाए गए क्या वे इससे लाभान्वित हो रहे हैं? 'नहीं' और उनका उत्तर खत्म हो जाता है। कहने का तात्पर्य है कि जिन शब्दों को हम बलात् विद्यार्थियों पर लादने का प्रयास कर रहे हैं वास्तव में उन्हें व्यावहारिक रूप से सिखाना आवश्यक है। आज शिक्षा पुस्तकीय रह गई है यदि कहूं कि पुस्तक से ज़्यादा उपलब्ध तमाम मोबाइल एप्स पर आधारित हो गई है तो अतिशयोक्ति न होगी।

विद्यार्थियों को गूगल से जो कुछ भी प्राप्त होता है उसे ही वे सत्य मानते हैं क्योंकि वह उन्हें बड़ी आसानी से मिल जाता है। ऊपर से यह आवाज बराबर आती है कि विद्यार्थी व्यावहारिक नहीं हैं, उन्हें व्यावहारिक बनाइए। मुझे कहीं भी व्यावहारिकता की मशीन नहीं मिली जिसमें डालकर बच्चों को व्यावहारिक बना दिया जाए। तमाम शोर और अनचाहे बोझ तले दबता बचपन सांस ले पाने में असमर्थ नज़र आ रहा है।

वे जब से होश संभालते हैं माता- पिता आधुनिकता की दौड़ में अपने बच्चों को आवश्यक अनावश्यक हर वस्तु दिलाते हैं। जिससे कोई उनके बच्चे को पिछड़ा हुआ न समझे। उस समय व्यावहारिकता की बात दरकिनार कर दी जाती है। क्यों माता -पिता उस समय यह ध्यान नहीं रखते कि कौन-सी वस्तु उनके व्यवहार की है और कौन सी नहीं? शिक्षक-शिक्षिकाओं की बहुआयामी भूमिकाएं होती हैं। एक शिक्षिका होने के नाते ढेरों भूमिकाएं निभाईं भी। मुझे याद पड़ता है कि शिक्षिका की भूमिका में मैं नियमपूर्वक बच्चों के जाने के पश्चात अपनी कक्षा में जाती थी और विद्यार्थियों के पीछे छूटे सामान को बटोरकर कक्षा की आलमारी में रखती थी। अगले दिन सुबह अपनी मेज पर सारी सामग्री रखती और बच्चों से कहती कि वे अपना सामान ले लें। यकीन मानिए कि दो- एक वस्तुएं ही कोई आगे बढ़कर लेता बाकी वस्तुएं वैसे ही पड़ी रहतीं। आश्चर्य होता,पर क्या करें, इन्हें इतनी वस्तुएं दे दी जाती हैं कि उन्हें अपनी वस्तुओं की पहचान ही नहीं रह जाती। कैसे व्यावहारिक बनेंगे बच्चे? कैसे मूल्यबोध होगा? नैतिक मूल्य

बोध या जीवन कौशल की अतिरिक्त कक्षाएं लेकर? मुझे लगता है, यह संभव नहीं। इस संदर्भ में मुझे अपना बचपन स्मरण आता है। हमारे विद्यालय का सत्र जनवरी से दिसम्बर था तो दिसम्बर के अंत में मेरे पिताजी पूरे वर्ष भर के लिए पढ़ने लिखने की सामग्री मंगवाते थे। उन वस्तुओं को सभी भाई बहनों में आवश्यकतानुसार वितरित किया जाता था। जिसे हमें पूरे साल चलाना पड़ता था। अतः अपनी वस्तुओं को ठीक से रखना, उनका सदुपयोग करना, उनसे प्यार करना, कॉपियों के हाशिए तक का उपयोग करना शायद बोलकर या लिखकर सिखाया नहीं गया था- व्यावहारिक रूप से हम उसे सीख रहे थे। एक ही जगह से वस्तुएं प्रयोग करने के कारण आपसी सौहश्रर्द था। किसी की वस्तु खो जाए तो उसे ढूंढ़ने में मदद करना या अपनी वस्तु देकर उसकी समस्या कम करना आदि बातें हमने जीवन कौशल (लाईफ स्किल) की अतिरिक्त कक्षा में नहीं सीखी। यह हमने अपने परिवार से सीखा। फिर आज बच्चों को ये गुण कक्षा में सिद्धांत के रूप में हम कैसे सिखा सकते हैं?

विद्यालयों में जो शिक्षा दी जाती है वह भी अनोखी, आज हर प्रतिष्ठित विद्यालय दिखावे में अधिक विश्वास करते हैं। जहां बच्चों के सर्वांगीण विकास को दिखाने के लिए, कहीं वार्षिकोत्सव, तो कहीं कॉ न्सर्ट, फन फीस्टा जैसे अन्यान्य तमाम कार्यक्रम प्रस्तुत किए जाते हैं। जिसके लिए लम्बे समय तक अभ्यास चलता है और उत्सव के खत्म होते ही हर कक्षा में विभिन्न विषय उनके दिमाग में ठूंस देने का प्रयत्न किया जाता है। कभी- कभी एक ही कक्षा में दो-दो पाठ पढ़ा दिए जाते हैं, हर विषय का पाठ्यक्रम शेष कर देने की होड़ लग जाती है। विद्यार्थी हैरान परेशान बैठे सोचते हैं कोई बात नहीं माता-पिता ने तो ट्युइशन रखा ही है, वहीं समझ लेंगे। विद्यालय का ये रवैया उसपर माता - पिता नब्बे प्रतिशत से नीचे अंक हजम ही नहीं कर पाते। इसके लिए वे हर विषय का ट्युइशन दिलवाते हैं। कोई कसर नहीं छोड़ते.... बस व्यावहारिक ही तो नहीं बना रहे हैं। इसके अलावा सबकुछ प्रदान करते हैं। माता-पिता अपने बच्चों को हर क्षेत्र में पारंगत कर देना चाहते हैं इसलिए शनिवार, रविवार को भी उन्हें चैन नहीं। बच्चे को नाचना, गाना, चित्रकारी सबकुछ आना चाहिए। अतः छुट्टी के दिन उन्हें इन विद्याओं के लिए अतिरिक्त कक्षाओं में भेजा जाता है। मैं सोचती हूं कि वास्तव में हम बच्चों को क्या बनाना चाह रहे हैं?.. मशीन, परंतु वह भी तो एक-आध दिन बंद रहती है। पर बच्चे सुबह से शाम तक दौड़ते रहते हैं या यूं कहूं कि उन्हें सुबह से शाम तक हाँका जाता है। यही वजह है कि बच्चे आज एकाग्रचित्त नहीं हैं। उनका ध्यान कक्षा में नहीं लगता। कक्षा में ध्यान न लगने का एक कारण और भी हो सकता है। जिसका ज़िक्र मैंने पहले भी किया है, वह है व्यक्तिगत शिक्षण(प्राइवेट ट्युइशन)। बच्चे इनकी वजह से कक्षा में ध्यान कम देते हैं। इस संदर्भ में एक दूसरी घटना मुझे याद आती है। जब मैं कक्षा नौ में पढ़ती थी तो मुझे लगा कि गणित मैं ठीक से नहीं कर पा रही हूँ, मैंने अपने पिताजी से जाकर कहा कि मुझे गणित में ट्युइशन की ज़रूत है। पिताजी कुछ क्षण तक चुप रहे फिर पूछा कि स्कूल में क्या करने जाती हो? बस एक प्रश्न और मैं वहाँ से हट गई। उसके बाद मैंने अभ्यास करना शुरु किया और मुझे अच्छे अंक प्राप्त हुए थे। मैंने अभ्यास करने की बात फिल्म देखकर या स्मार्ट बोर्ड पर अन्य प्रकार के चलचित्र अथवा वृत्तचित्र देखकर नहीं सीखा था, मगर जो सीखा वह स्थायी है।मैं यहां चलचित्र या वृत्तचित्र दिखाने का विरोध नहीं कर रही हूं क्योंकि समय के अनुसार हमें कुछ चीजें स्वीकार करनी चाहिए फिर अच्छा साहित्य और सिनेमा तो शिक्षा के माध्यम हैं ही परंतु जब व्यावहारिकता की बात आती है तो सतही तौर पर हमें बच्चों को केवल शब्द नहीं देना है बल्कि उसकी तह तक जाकर उन्हें शिक्षित करना होगा।

शिक्षा जीवन का आयाम है, जो मनुष्य को सहिष्णु और विवेकी बनाता है। यह शिक्षा केवल विद्यालयों में संभव नहीं। ❑

११ किशन लाल वर्मन रोड़, फ्लैट ४ल/व हनुमान टावर, सलकिया बाँधाघाट, हावड़ा - ७१११०६
फोन - ८२४०१८६७०७

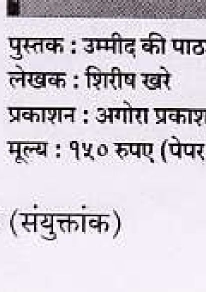
उम्मीद की पाठशाला



शिरिष खरे

देश के दूर-दराज के अंचलों से शिक्षा में बदलाव के लिए कार्य करने वाले सरकारी स्कूलों की रोचक कहानियों पर लिखी गई शिरीष खरे की पुस्तक 'उम्मीद की पाठशाला' महाराष्ट्र, गोवा, मध्यप्रदेश और छत्तीसगढ़ के सार्वजनिक स्कूलों की यादगार कहानियों से रूबरू कराती है। युवा पत्रकार और अध्येता शिरीष ने दूर दराज की बीहड़ यात्राओं से इन कहानियों को जुटाया है। प्रख्यात शिक्षाशास्त्री डॉ. अनिल सद्गोपाल का कहना है कि 'शिरीष खरे की यह पुस्तक नई रोशनीलेकर आई है। लेखक ने पांच राज्यों के दूरदराज के इलाकों में सरकारी स्कूलों के बेहतरीकरण के लिए शिक्षकों, पालकों, समुदायों व पंचायतों द्वारा की गई पहलकदमियों की प्रेरणादायक कहानियां दर्ज की हैं। ये कहानियां, बदलाव की तीन अहम संभावनाओं को उजागर करती हैं। पहला, सरकारी स्कूलों में शिक्षा की गुणवत्ता सभी तबकों के बच्चों के लिए बेहतरीन करना मुमकिन है। दूसरा, बहुजन (आदिवासी, दलित, ओबीसी, मुस्लिम, विमुक्त व घुमन्तु जाति) बच्चे कभी भी 'ड्राप-आउट' नहीं होते वरन् पूरी स्कूली व्यवस्था और माहौल के द्वारा वे 'पुश-आऊट' या बेदखल किए जाते हैं। तीसरा, यह मिथक है कि प्राईवेट स्कूल बेहतर होते हैं और सरकारी स्कूल घटिया। जब स्कूलों बदलाव लाए गए तो न केवल पालकों ने बच्चों को प्राईवेट स्कूलों से निकालकर सरकारी स्कूलों में भेजा, बल्कि बहुजनों के बेदखल किए गए बच्चे-बच्चियां भी स्कूल आने लगे, यानी पूरे गांव इलाके का सरकारी स्कूल पर भरोसा लौट आया।' किताब की भूमिका में जाने-माने सामाजिक कार्यकर्ता वल्लाभाचार्य ने लिखा है कि इस पुस्तक में भारत के सुदूर ग्रामीण इलाकों में बचे रह गए अनेक जर्जरित और परित्यक्त स्कूलों के जीवंत और सक्रिय स्कूलों में बदल जाने से संबंधित सफलता के सूत्र हैं। बतौर पत्रकार शिरीष खरे ने एक दशक से भी अधिक समय में अलग-अलग क्षेत्रों के सौ से अधिक स्कूलों का भ्रमण किया और इनमे से कुछ उत्कृष्ट, लेकिन अनकही कहानियों को अपनी पुस्तक के लिए चुना है। इस दौरान उन्होंने मुख्यधारा के मीडिया समूह और गैर-सरकारी संस्थानों के अलावा अपने व्यक्तिगत प्रयासों से कई दुर्गम इलाकों के स्कूलों की यात्राएं भी की हैं और बदलाव के पीछे के मुख्य कारणों पर विस्तृत विवरण तैयार किए हैं।

इन स्कूलों को अध्यापकों, बच्चों और अभिभावकों के सम्मिलित प्रयासों से नया जीवन मिला है। साथ ही, इन्होंने अपनी भूमिका से आगे बढ़कर 'आदर्श-शाला' की संकल्पना को भी विस्तार दिया है। यह पुस्तक अध्यापक और अभिभावकों के लिए भी एक प्रेरक पुस्तक साबित हो सकती है। साथ ही यह प्राथमिक और सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली के प्रति एक भरोसा जगाती है। शिक्षा के निजीकरण के दौर में जब सरकारी स्कूल हाशिए के समुदाय के बच्चों के स्कूल के रूप में जाने जा रहे हैं, तब इन स्कूलों ने अपने सीमित-संसाधनों के बूते कई बड़ी बाधाओं को पार किया है और लगभेग हर मानक पर अपना अग्रणी स्थान बनाया है। कुछ स्कूलों ने तो अपने उपक्रमों के माध्यम से सफलता की नई कसौटियां तैयार कीहैं और अपने संघर्ष को एक नई दृष्टि से देखने का आग्रह किया है। ❑



-सप्रेस से साभार

पुस्तक : उम्मीद की पाठशाला
लेखक : शिरीष खरे
प्रकाशन : अगोरा प्रकाशन, बनारस
मूल्य : १५० रुपए (पेपर बैक)

केशव शरण की कविताएं



❑

भाई केशव शरण वाराणसी में रहते हैं। डाक विभाग की सेवा में लगभग पूरा जीवन बिताया मगर दो वर्ष पहले स्वेच्छा से सेवानिवृत्ति ले ली। पूरे देश के पत्र-पत्रिकाओं में उनकी कविताएं और लेख छपते रहते हैं। अनौपचारिका में भी पहले उनका लेख प्रकाशित हुआ है। वे अपनी ही कविता को अच्छी तब मानते हैं जब वह आह्लादित करे, आलोकित करे और आनंदित करे। ❑ सं.

सीढ़ियां और रास्ते

सीढ़ियां
कब कहती हैं
न चढ़ो,
रास्ते कब कहते हैं
न बढ़ो

सीढ़ियां
एक ऊंचाई पर
पहुंचा देंगी,
रास्ते
बहारों की मंज़िल ला देंगे

सीढ़ियों पर
सदियों की काई है,
रास्ते पर
युगों के कांटे

सर्दियों में फूल

भारी-भरकम गमले
लहराते पौधों के साथ
रखवाये गये थे
जब ये रास्ते
सजवाये गये थे
जब कोई हस्ती आयी थी
सात समुंदर पार से

उसके जाते ही
पौधे सूखने लगे
गमलों में
रह गये डंठल

देख रहा हूं
डंठल सरस रहे हैं
जब से
बादल बरस रहे हैं
नव मानसून के

लगता है
डंठल
फिर अपने पूर्व रूप में आयेंगे
उनके फूल
सर्दियों की धूप में गायेंगे

पानी की कमी

उस नदी को
इस नदी से जोड़ेंगे
इस नदी को
उस नदी से
हर नदी से
हर नदी को
इससे पानी की कमी दूर होगी

मगर पानी की कमी क्यों हुई
जिस देश में गंगा बहती है,
सोचा ?
सोचा,
प्यार की कमी क्यों हुई
इस देश में ?
सोचा,
प्यार की कमी से
पानी की कमी कैसे होती है ?

जब प्यार की कमी दूर होगी
पानी की कमी दूर होगी

पानी को पानी से जोड़कर
कुछ नहीं होगा भ्रांतमति !
अगर कमी बनी रही
प्यार की
जीव और प्रजीव के प्रति।

प्यार क्या है

वेद हैं
गीता है
संत-साहित्य है
आधुनिक
और उत्तर-आधुनिक ज्ञान है
कलाओं का लालित्य है
इनके सहारे
बहुत कुछ जाना
प्यार क्या है
ढाई आखर का यह शब्द

बहुत कुछ से
बहुत-बहुत कुछ
अभी जानना बाक़ी है
और वह
न कृष्ण
न कालिदास से
केवल अपने प्रयास से

आदमी और खच्चर

एक आदमी के साथ
एक खच्चर
दिखायी दिया
आदमी से ज़्यादा
खच्चर ने आकर्षित किया

एक साथ
वे जुटे हुए थे काम में
आदमी उस पर माटी लादता था
खच्चर उसे पहुंचाता था

आदमी
ख़ुशदिल था
खच्चर भी
ख़ुश लग रहा था

खच्चर की ख़ुशी
आदमी की ख़ुशदिली से भी
अच्छी लगी

लगा जैसे वह
किसी महत्वपूर्ण काम में
आदमी का हाथ
बंटा रहा है
जिसमें वह पा रहा है
अपने होने की सार्थकता
सुकून और प्यार
एक साथ ❑

एस-२/५६४, सिकरौली,
वाराणसी-२२१००२
मो. ६४१५२६५१३६

सफर सीखने-सिखाने का



महमूद खान

❑

आज बालकों के सर्वांगीण विकास की शिक्षा प्रतिष्ठित विद्यालयों में जिस प्रकार से दी जा रही है। उसमें फन, फैशन, प्रतियोगिता से लेकर गाना, बजाना आदि तमाम कार्यक्रम आयोजित किये जाते हैं। लेकिन बच्चों के साथ प्रयोग करके सीखने-सिखाने के हुनर से वे वंचित रह जाते हैं। माता-पिता की महत्वाकांक्षा के चलते वे हर प्रकार का ज्ञान उनमें भर देना चाहते हैं। वे उन्हें ट्यूशन भी कराते हैं। यह सब सोशल मीडिया पर भी उपलब्ध हैं। प्रस्तुत आलेख में भाई महमूद खान अपने जीवन के अनुभव साझा कर रहे हैं जो उन्होंने बालकों के साथ काम करते हुए सीखा है, जाना है और उन्हें सिखाया भी है।

❑ सं.

ज़िन्दगी के सफर में हम हमेशा एक दूसरे से, अपने आस-पास के परिवेश से और घटनाओं से लगातार कई चीजें सीख रहे होते हैं। हम लोगों से कुछ सीख रहे होते हैं, साथ ही उन्हें भी बहुत सारी चीजें सिखा रहे होते हैं। अपने जीवन में सीखने-सिखाने की इसी रोमांचक प्रक्रिया और इस प्रक्रिया में निहित संघर्ष से जुड़े कुछ अनुभवों को मैं आपके बीच रखने की कोशिश कर रहा हूं। आइये, थोड़ा पीछे चलते हैं। मैं अपने छात्र जीवन में एक शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान में अध्ययन कर रहा था। वहाँ हमें सीखने-सिखाने के बहुत से सिद्धांत बताये जाते थे। उस समय यह सैद्धांतिक बातें मुझे तथा मेरे कई अन्य साथियों को सिर्फ किताबी बातें नजर आती थी। यह वो दौर था जब भारत में अनेक राज्यों में साक्षरता अभियान बहुत जोर शोर से चलाया जा रहा था। हमारा राजस्थान भी उनमें से एक था। मुझे भी इस साक्षरता अभियान में शामिल होने का अवसर मिला। अब कॉलेज के अलावा, मेरा अधिकतर समय साक्षरता अभियान की बैठकों में बीतने लगा। इन बैठकों में शिक्षा और समाज को लेकर गंभीर विचार-विमर्श होता था। इन बैठकों में मेरे जिले के कई नामी गिरामी शिक्षाविद शामिल होते थे। मुझे इन सभी के विचार सुनकर कई मुद्दों को गहराई से समझने का मौका मिलता था।

यह सब काम करते हुए जब जिला साक्षरता समिति की एक स्तर की तैयारी पूरी हो गई , तब तय किया गया की प्रौढ़ लोगों को पढ़ना-लिखना सिखाने के लिए कुछ सामग्री विकसित की जाए । इस तरह प्राइमर (नव साक्षरों को पढ़ाने के लिए पुस्तक) तैयार करने पर सहमती बनी। भाषा शिक्षण के तरीकों पर अनुभव रखने वाले लोगों का सुझाव था कि वर्णमाला के बजाय हमें शब्द पद्धति से सिखाना होगा। मेरे लिए यह चौंकाने वाली बात थी, क्योंकि यहाँ चर्चा इस बात की हो रही थी कि बच्चों और बड़ों के सीखने के तरीके एक नहीं हो सकते। दलील ये थी कि बड़ों के पास अपनी जिन्दगी से जुड़े ढेरों अनुभव पहले से मौजूद होते हैं । अतः उन्हें केवल अक्षर और गणितीय अंकों की पहचान व लिखना सिखाना है। इसे वे बहुत कम समय में और तेज गति से सीख सकते हैं।

इस तरह साक्षरता अभियान की बैठकों के विमर्श और काम की प्रक्रिया का हिस्सा बनकर, मैं पहली बार अपने कॉलेज में बताये गए

सीखने के सिद्धांतों से थोड़ा रिश्ता बनता हुआ देख पा रहा था। मैं प्राइमर लिखने वाली टीम का हिस्सा बना। यहां की कार्यशालाओं में भागीदारी करते हुए इन मुद्दों पर मेरी समझ और भी पुख्ता होती गई। एक दिन बहुत रोचक अनुभव मिला। हमारे एक साथी तेलगु भाषी थे। उन्होंने बोर्ड पर तेलगु भाषा में कुछ लिख दिया। उन्होंने हम सभी से यह पढ़ने के लिए कहा। टीम के सभी सदस्यों ने एक स्वर में कहा यह भाषा हमारी नहीं है, हम इसे नहीं पढ़ पाएंगें। हमारे तेलगु भाषी साथी ने बताया कि यह तो बहुत आसान सा शब्द-मटका-लिखा गया है। उनका कहना था की हम एकदम सही हैं, लेकिन थोड़ी देर के लिए हमारे उन गांवों के लोगों के बारे में भी सोच लें जिनके लिए हिन्दी भाषा भी एक विदेशी भाषा है। वे अपने घर-गांव में अपनी बोली बोलते हैं। अपने इस साथी का तर्क हम सभी को बहुत अच्छी तरह से समझ में आ गया था।

यहीं से यह सीख मिली कि अपरिचित शब्दों से पहले परिचित चित्र दिखायें जाने चाहिए। यह चित्र यदि लोगों की दैनिक जिन्दगी से जुड़ा हुआ है तो वे उसे आसानी से पहचान लेंगे। बस, फिर उन्हें दिये गए चित्र के नाम में आने वाले वर्णों को मिला कर पहले शब्द की पहचान और फिर शब्द में से अलग अलग वर्णों की पहचान भर करनी होगी। जब ये पहचान का काम पुख्ता तौर पर हो जाये तब हमको उन्हें इन वर्णों को अदल बदल कर जुड़ने से बनने वाले नए शब्दों की ओर लेकर चलना है।

उदाहरण के लिए पहला चित्र मटका है। इसके माध्यम से म,ट,क एवं आ की मात्रा की पहचान पक्की कराने के बाद हम इन्ही वर्णों से बन रहे नए शब्दों जैसे– मामा, काका, कम, काम, टाटा, टाट, टामक, टमटम, टका आदि पर भी काम कर सकते हैं। इसी तरह कुछ छोटे वाक्य भी पढ़ने का प्रयास किया जा सकता है। जैसे– मटका का काम, मामा का काम, काका का काम, काम का टका, मटका का काम, टका का काम, आदि। इस प्रक्रिया में यह समझ भी बनी कि सारे वर्णों को (सम्पूर्ण बारह खड़ी) सीखने में अच्छा ख़ासा समय लगता है। इतना धैर्य एक कामकाजी व्यक्ति के पास होना मुश्किल है, अतः जल्दी और कम समय में सीखने के तरीके खोजना ही एकमात्र उपाय है। यहां पहली बार मुझे यह समझ में आया कि बड़ों तथा बच्चों के सीखने की गति में फर्क होता है। यह फर्क उनके पूर्व अनुभवों की वजह से होता है। बड़े लोगों के पास दैनिक जीवन और परिवेश से व्यापक अनुभव होते हैं, जबकि छोटे बच्चों के पास इस तरह के अनुभव अभी कम होते हैं । अभी तो वे अपने आस-पास से ऐसे तमाम अनुभवों को अर्जित कर रहे होते हैं। किसी व्यक्ति या बच्चे के दैनिक जीवन और परिवेश के अनुभवों का उसके सीखने-सिखाने से सीधा संबंध होता है। यह समझ मुझे साक्षरता अभियान के दौरान किए गए काम से बनी। आगे चलकर इसका लाभ मुझे मेरी बी.एड. की परीक्षा में भी मिला। यहां कई प्रश्नों का जवाब मैं ज्यादा बेहतर तरीके से दे पाया।

इस तरह काम करते हुए सीखते-समझते कुछ और समय बीत गया। मुझे राजस्थान की शिक्षा व्यवस्था में किए गए नवाचार आधारित प्रोजेक्ट 'लोक जुम्बिश' और 'शिक्षाकर्मी' के लिए अकादमिक सन्दर्भ संस्था संधान (शिक्षा एवं विकास अध्ययन संगठन) में काम करने का महत्त्वपूर्ण अवसर मिला। यहां पर तमाम शिक्षकों और शिक्षा कर्मियों के साथ मिलकर बच्चों को सिखाने के बहुत सारे सृजनात्मक तरीके खोजने का मौका मिला। हम सबने आपस में मिलकर बहुत सारे छोटे-छोटे खेल बनाये। बच्चों द्वारा खेले जाने वाले विभिन्न खेलों को आधार बनाकर नवाचारी गतिविधियां तैयार की गईं। हमारे आस-पास के गांव में इस्तेमाल की जा रही स्थानीय पहेलियों का संग्रह तैयार किया। कई लोकगीत एवं बाल कविताएं एकत्र की गईं। हमने देखा कि जब इस तरह की रोचक सामग्री का उपयोग सरकारी विद्यालयों के बच्चों के साथ होने लगा, तो स्कूल से उनका रिश्ता और भी ज्यादा मजबूत हुआ। स्कूल में बच्चों की औसत उपस्थिति बढ़ने लगी थी और उनके सीखने की गति में भी साफ परिवर्तन दिखाई देने लगा। एक बार फिर यह समझ पुख्ता हुई की यदि बच्चों को उनकी जिन्दगी के आस-पास के उदाहरण लेकर

कक्षा में सीखने-सिखाने का काम किया जाय तो इस प्रक्रिया को और भी मजेदार तथा सरल बनाया जा सकता है।

भाषा शिक्षण के तहत इसी प्रकार के और भी कई रोचक काम किये गए। लोगों की पसंद का एक-एक शब्द एकत्रित कर सूची बनाना, फिर इन्ही शब्दों का उपयोग करते हुए सामूहिक चिंतन और कल्पना के आधार पर एक कहानी तैयार करना। या फिर किसी समूह के प्रयेक व्यक्ति द्वारा बारी-बारी से एक वाक्य बोलते हुए कहानी को आगे बढ़ाना। इस तरह की कई रचनात्मक गतिविधियों को तैयार किया गया और इन्हें प्रौढ़ नव साक्षरों के साथ किया गया। बाद में इस तरह की गतिविधियों का उपयोग छोटे बच्चों के साथ भी किया जाने लगा। इस समय तक ये तमाम काम प्राइमरी कक्षाओं में पढना लिखना सीखने-सिखाने के तरीकों के रूप में शामिल हो गया था।

आगे के सफ़र में एक बड़ा बदलाव आया। मुझे अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन के साथ जुड़ कर कक्षा १ से १२ वीं तक पढ़ाने वाले शिक्षकों के साथ काम करने का अवसर मिला। यहां आने से पहले मेरे पास प्राथमिक शिक्षा में काम करने का एक लम्बा अनुभव था। इन अनुभवों में पुस्तक लेखन, परीक्षा के लिए प्रश्नपत्र बनाना, मूल्यांकन के तरीके विकसित करना, शिक्षक प्रशिक्षण मोड्यूल बनाना और उसके आधार पर शिक्षक प्रशिक्षण करवाना आदि शामिल था। अतः मेरे इस भ्रम का पनपना स्वाभाविक था कि मुझे शिक्षा के क्षेत्र में बहुत कुछ आता है।

फाउंडेशन में काम के दौरान विभिन्न तरह के मुद्दों पर चर्चा और बहस में शामिल होने का अवसर मिला। यहां मैंने अपने उस भ्रम को टूटते हुए पाया। यह समझ बनी कि दरअसल शिक्षा का क्षेत्र बहुत व्यापक है और इसमें निरंतर सीखने-सिखाने की जरुरत है। इस निरंतरता के लिए पढ़ना और लिखना तो जरुरी है ही। साथ ही आपसी विचार-विमर्श भी बहुत ज़रूरी है। अपनी समझ को जांचने-परखने के लिए लगातार कक्षा-कक्षा में जा कर बच्चों के साथ काम करते रहना चाहिए। इस तरह सैद्धांतिक समझ के अलावा बच्चों के साथ काम करने का ठोस अनुभव भी बहुत ज़रूरी हैं। उदाहरण के लिए हम अपनी कक्षा में विभिन्न विषयों की बेहतर समझ के लिए शिक्षण अधिगम सामग्री का इस्तेमाल करते हैं। इनमे से कौन सी सामग्री शिक्षक की मदद के लिए है और कौनसी बच्चों के साथ इस्तेमाल की जा सकती है यह समझ तब बनी जब उसका कक्षा-कक्षों में उपयोग किया। इस सब से इतर, बच्चों एवं उनके शिक्षकों के साथ मिलना, उनकी चुनौतियों को जानना, उनके दुःख-सुख में भागीदार बनने से एक अलग ही अनुभव मिला है। इस तरह से लोगों से मिलने का मौका मिला तथा शिक्षकों से मधुर सम्बन्ध बनाकर मानव ह्रदय को और गहराई से जानने का सुनहरा अवसर मिला।

अपने काम के सिलसिले में राजस्थान के विभिन्न जिलों और सुदूर स्थित ब्लॉकों में जा कर काम करने का मौका मिला। इस तरह अन्य राज्यों में जा कर साथियों के साथ मिलकर काम करने से देश दुनिया को और बेहतर ढंग से जान पाने का अवसर मिला है। जीवन के इन विभिन्न ज्ञानवर्धक तथा खट्टे मीठे अनुभवों से ये समझ बनी की सीखने-सिखाने की प्रक्रिया एक लगातार चलने वाली प्रक्रिया है। हमें सदैव नया सीखते रहने के लिए तैयार रहना चाहिए। यह भी समझ में आया की यदि हम बच्चों को कुछ सिखाना चाहते हैं, तो सर्वप्रथम यह समझना ज़रूरी है कि हम सीखते कैसे है? यदि बच्चों ने, या किसी भी व्यक्ति ने यह मूल मन्त्र समझ लिया कि सीखते कैसे हैं? तो फिर वो अपनी समझ से ही आगे के रास्ते की तलाश खुद-बखुद कर लेगा। हालांकि, मुझे ऐसा लगता है कि सीखने का सफ़र शुरू होता हुआ तो नजर आ सकता है, लेकिन इसके अंत की कोई खबर किसी के पास नहीं है। ये एक जीवन पर्यंत चलने वाली प्रक्रिया है। ❑

-अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन ,जयपुर

छुआछूत की रूढ़ी से हमें चाहिए आजादी

स्कूल और समुदाय दो या एक कड़ी



अनुपमा तिवाड़ी

❑

आज स्कूल सीखने और सिखाने के प्रभावी केन्द्र नहीं बन पा रहे हैं। जहां सीखना तो सतत प्रक्रिया है वहीं आज यह केवल एकांगी विकास तक सीमित रह गया है। जबकि हमारे लोकतांत्रिक देश में बच्चों से यह अपेक्षा है कि वे स्वयं के विकास के साथ–साथ समाज और देश के विकास में अपना योगदान दें। प्रस्तुत लेख में शिक्षिका अनुपमा तिवाड़ी शिक्षा व्यवस्था के प्रति की चिन्ता जताते हुए अपने अनुभवों का साझा कर रही हैं और मन में उठे सवालों के उत्तर खोजने का प्रयास कर रही हैं। सं. ❑

बच्चों सामाजीकरण ठीक से हो, बच्चा दुनिया को और बेहतर तरीके से जान पाए, अपने जीवन को चला पाए और आने वाली पीढ़ी के विकास की इमारत में एक और ईंट जोड़ने का योगदान दे पाए आदि कई उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हुई थी।

कालांतर में शिक्षा व्यवस्था रूढ़ होने के साथ – साथ जीवन से भी दूर होती गई है। अब जीवन में सीखने का उद्देश्य खोता सा दिखाई दे रहा है या इस बात को यूँ कहें कि जीवन में सीखने के सार्थक प्रयासों का स्थान सफलता ने ले लिया है फिर वो सफलता चाहे किसी भी प्रकार से हासिल क्यों न की गई हो। अब अधिकांश स्कूल अनुशासन में बंधे, अपने तौर – तरीके बना कर लीक पर चलने वाले एकांगी बन कर रह गए हैं. हालाँकि शिक्षा की गुणवत्ता को ले कर कई बार शिक्षाविदों और शिक्षातंत्र द्वारा चिंताएँ जाहिर की जाती रही हैं फिर भी सही अर्थों में हम अपने बच्चों की शिक्षा के लिए औपचारिक स्कूलों को सीखने – सिखाने के प्रभावी केंद्र नहीं बना पाए हैं। इसलिए कहीं – कहीं हमें बच्चों का एकांगी विकास देखने को मिलता है और कभी – कभी वह भी नहीं !

हमारे लोकतान्त्रिक देश में बच्चे से भविष्य में एक ऐसे नागरिक की भी अपेक्षा है जिससे वह स्वयं के विकास के साथ – साथ समाज और देश के विकास में भी योगदान दे पाए। यह कार्य सिर्फ एक स्कूल के द्वारा नहीं किया जा सकता इसलिए राष्ट्रीय शिक्षा नीति, कोठारी आयोग और राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा २००५ में समुदाय की विद्यालयों में अहम भूमिका सुनिश्चित की गई है. राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा इस बात को रेखांकित करती रही हैं कि स्कूल बच्चे के लिए सीखने का स्थान है लेकिन बच्चे के सीखने में एक निरंतरता होती है इसलिए सीखना स्कूल की चारदीवारी के बाहर भी चलता रहता है। सीखने के मामले में स्कूल और समुदाय यदि मिलकर काम करते हैं तो बच्चे को सीखने के बेहतर अवसर मिल पाते हैं। स्कूल में बच्चे को जो सिखाया जाता है यदि वह अभिभावकों की नज़र में रहता है तो वे ये जान पाते हैं कि उनका बच्चा स्कूल में क्या सीख रहा है और जो सीख रहा है उसका उसकी स्कूली शिक्षा और जीवन में क्या महत्व है ? जब वे यह बात समझने लगते हैं तो वे बच्चों की शिक्षा में अप्रत्यक्ष रूप

से मदद भी करने लगते हैं।
एक बार स्कूल में मैंने बच्चों के साथ नक़्शे पर काम किया। यह काम बच्चों से उनके घर के नक़्शे बनवाने की शुरुआत से ले कर, उनके गाँव का नक्शा बनवाते हुए जिले के नक़्शे के बाद राज्य के नक़्शे पढ़वाने / समझने का था। गाँव का नक्शा बच्चों को उपसमूहों में घर से बना कर के लाना था। मैंने देखा कि इस काम में बच्चों की नक्शा बनाने में गाँव के बूढ़ों और युवाओं ने मदद की। इस समय समुदाय के लोगों का ज्ञान स्कूली शिक्षा में काम आ रहा था। गाँव के किसी भी व्यक्ति को यह नहीं लगा कि यह काम क्यों करवाया जा रहा है? बल्कि लगभग सभी यह समझ पा रहे थे कि स्कूल में जो हो रहा है वह ज्यादा जीवनोपयोगी है और इसका बच्चे के जीवन से सम्बन्ध है। इस प्रकार शिक्षा यदि स्कूल से बाहर निकल के समुदाय के बीच जाती है तो वह समुदाय को भी अपने से जोड़ पाती है। ऐसे में स्कूल यदि समुदाय के ज्ञान को सम्मान देता है तो समुदाय भी भली प्रकार से अपनी जिम्मेदारियों का निर्वहन करने का प्रयास करता है और उससे आगे बढ़कर समुदाय के लोग विद्यालय की ज़रूरतों को भी पूरा करने का प्रयास करते हैं।

स्कूल में सभी विषयों की पुस्तकों में विषयवस्तु अलग - अलग प्रकार की होती है। कई बार शहरी क्षेत्र में पले - बढ़े शिक्षक फसल, ग्रामीण परिवेश में जल संग्रहण के तरीकों और वहाँ की भाषा नहीं समझ पाते हैं ऐसे में समुदाय के लोग समय - समय पर विद्यालय में आ कर अपने व्यावहारिक ज्ञान को साझा करते हैं तो उससे समुदाय में अपने ज्ञान के प्रति आत्मविश्वास पैदा होता है। ऐसे में बच्चों को व्यावहारिक उदाहरणों द्वारा विषयवस्तु की अवधारणा को समझने में मदद मिलती है और शिक्षक भी कई सारी चीजों को जान / सीख रहा होता है। एक शिक्षक, एक अच्छा शिक्षक लगातार सीखते रहने से ही बन पाता है. आज कई बार शिक्षक इस बात से दुखी दिखाई देते हैं कि उनका समाज में सम्मान कम होता जा रहा है. इस पर शिक्षकों को देखना / समझना होगा कि उन्हें वह कैसे प्राप्त हो सकता है।

ऐसे में बच्चे के लिए स्कूल का सीखना और परिवार / समाज में सीखना अलग - अलग चलता रहता है। दोनों जगहों का सीखना मिलकर बच्चे को समृद्ध नहीं कर पाते हैं। कई बार समुदाय और विद्यालय जब एकदूसरे की स्थितियों और अपेक्षाओं को नहीं समझ पाते हैं तो वे परस्पर एकदूसरे को उपेक्षित निगाहों से भी देखने लगते हैं जिसका बच्चे के व्यक्तित्व और सीखने पर भी प्रभाव पड़ता है।

शहरी क्षेत्रों में यदि देखें तो अभिभावकों और शिक्षकों की मीटिंग में स्कूलों के द्वारा अक्सर बच्चों की शैक्षिक और व्यावहारिक कमियों को उजागर किया जाता है और उसमें सहयोग के लिए अभिभावकों से सहयोग की अपेक्षा की जाती है। वहीं अभिभावक बच्चे के सीखने, व्यवहार सम्बन्धी और स्कूल की गतिविधियों आदि की समस्याओं को स्कूल के सामने रखते नज़र आते हैं. यहाँ बच्चा दोनों संस्थाओं के बीच में पिसता रहता है. उसे अपने स्कूल के नियमों और अभिभावकों की अपेक्षाओं पर खरा उतरना होता है. ऐसे में स्कूल और परिवार दोनों ही संस्थाएँ बच्चे को आनंद के साथ सीखने में मदद नहीं कर पाती हैं और अलग-अलग धारा में बहती रहती हैं।

शहरी क्षेत्र में आज शिक्षा के बेहतर विकल्पों के अभाव में बहुत सारे अभिभावक अपने बच्चों को निजी विद्यालयों में भेजने के लिए मजबूर हैं. क्योंकि उन्हें शिक्षा के बेहतर विकल्प अब सिर्फ निजी विद्यालयों में ही दिखाई दे रहे हैं। निजी विद्यालय अपने विवेक के अनुसार पाठ्यक्रम में नई - नई पाठ्यपुस्तकें, विषयवस्तु और गतिविधियाँ जोड़ते - घटाते रहते हैं। बच्चे को इस उम्र में क्या सिखाया जाए यह तो राज्य तय कर रहा है लेकिन उस पर और उसकी क्रियान्विति पर माता - पिता की क्या राय हैं ? स्कूल में उस पर किस तरह से काम किया जा रहा है? यह सिखाने में शिक्षक को किन - किन चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है? ये प्रश्न सिरे से गायब हैं। बच्चा बलि का बकरा बना हुआ है जिसे कोई भी, कुछ भी, कैसे भी सिखाने में जुटा है। उसका काम बस सीखना है जो उसे सिखाया जा रहा है। यहां सिखाने वाले बड़े हैं, समझदार हैं,

शिक्षित हैं और बेहतर जिंदगी का तजुर्बा रखते हैं। उसे तो बस सीखना हैं इस विश्वास के साथ कि उसे सिखाने वाले उसके हित के लिए ही तो ये सब कर रहे होंगे। यहाँ कोई बच्चे को पढ़ना नहीं चाहता. बच्चे की रुचियों को जानना, उसकी क्षमताओं को आंकना और फिर उसे सीखने में पूरे मन से उसके सीखने में मदद करने की कोई ज़हमत नहीं उठाना चाहता। शायद इस विचार से कि वो भी सीख ही लेगा इतना कुछ करेंगे तो (जो अभिभावक पढ़े - लिखे हैं उनके अनुसार) हमने भी तो सीखा ही है।

यदि हम स्कूली शिक्षा के व्यापक उद्देश्यों को देखें तो उसमें बच्चों के चहुँमुखी विकास की बात की गई है। जिसमें उसके संज्ञानात्मक कौशलों के साथ-साथ उसके शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक और व्यक्तित्व विकास की बात भी की गई है. आज की स्थितियों में यहाँ सवाल उठता है क्या, समुदाय और स्कूल मिलकर बच्चे के लिए ऐसी स्थितियाँ बना पा रहे हैं कि जिसमें उनका चहुँमुखी विकास हो पाए? नहीं! तो फिर इस पर कुछ और अधिक विचार करने और प्रयास करने की ज़रुरत है।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में यदि हम एक सामान्य परिवार में बच्चों की बात करें तो कई जगह निम्न और निम्न मध्यमवर्गीय / मध्यमवर्गीय परिवारों की पहली पीढ़ी सरकारी स्कूलों में शिक्षित होने आती है। जहां माता-पिता, बच्चों को भोजन उपलब्ध करवा देने, उन्हें कपड़े बनवा देने उन्हें कुछ समय खेल लेने और स्कूल भेज देने से ज्यादा बच्चे की कोई और ज़रुरत महसूस नहीं कर पाते हैं। उन्हें लगता है एक बच्चे की भला इससे ज्यादा और क्या ज़रुरत हो सकती है?

यदि कस्बों और शहरी क्षेत्रों में हम देखें तो (जहां निजी स्कूल उपलब्ध हैं) निम्न मध्यमवर्गीय, मध्यमवर्गीय और उच्चवर्ग अपने बच्चों को निजी स्कूलों में भेज रहा है क्योंकि उसे लगता है कि उसके बच्चे पीछे नहीं रह जाएं। ये निजी स्कूल अंग्रेजी भाषा के नाम पर तरह-तरह के टैग लगाये आज बाजार में खड़े हैं। निजी स्कूलों में भेजने के बावजूद उनके अन्दर अपने बच्चों को और सिखाने की तड़प है। वहां भेजने के बावजूद वे ये समझ पा रहे हैं कि जो कुछ स्कूलों में हो रहा है वह उनके बच्चे के लिए अपर्याप्त है। यह प्रतियोगिता का युग है इसलिए जो उसे बेहतर लग रहा है वह थोड़ी बहुत आश्वस्ति के साथ उसे स्वीकार कर रहा है, उन्हें चुन रहा है। जैसे ग्रीष्मावकाश के दिनों में कई जगहों पर हॉबी क्लासेज चलती हैं जिसमें हाथ से कुछ-कुछ बनाना सीखना, नृत्य सीखना, वाद्य यन्त्र बजाना सीखना या थियेटर जैसी चीजें सीखने के लिए वे अपने बच्चों को भेज रहे हैं।

कई बार माता - पिता अपने बच्चों पर इस प्रकार की टिप्पणी करते हुए भी दिख जाते हैं कि तेरा इन कामों में तो खूब ध्यान लगता है, पढ़ने में क्यों नहीं लगता? अगर पढ़ाई में इतना ध्यान लगाये तो पढ़ाई में नाइंटी फाइव परसेंट नहीं आ जाएं? कलाओं या बच्चों के लिए रुचिकर चीजें सीखना, अधिकांश अभिभावकों के लिए उसकी शैक्षिक प्राथमिकताओं में नहीं है। उनके लिए पहली और पहली प्राथमिकता बच्चे

मध्यमवर्गीय माता-पिता, बच्चों को भोजन उपलब्ध करवा देने, उन्हें कपड़े बनवा देने उन्हें कुछ समय खेल लेने और स्कूल भेज देने से ज्यादा बच्चे की कोई और ज़रुरत महसूस नहीं कर पाते हैं। उन्हें लगता है एक बच्चे की भला इससे ज्यादा और क्या ज़रुरत हो सकती है?

भूखे-नंगे जीवन से हमें चाहिए आजादी

बच्चे भी इस बात को जल्दी ही समझ लेते हैं कि ग्रीष्मावकाश के दौरान जो कुछ भी उन्होंने हॉबी क्लासेज में सीखा है उसका स्कूली शिक्षा से कोई लेना – देना नहीं है इसलिए बच्चे कभी इस प्रकार की गतिविधियों का स्कूल में ज़िक्र करते दिखाई नहीं देते हैं। जो चीजें बच्चों को कलाओं से जोड़ती हैं, उन्हें गहराई से अवलोकन करना सिखाती हैं, मिलकर काम करना सिखाती हैं, शब्दों, रंगों और ध्वनियों से खेलना सिखाती हैं। ये सब चीजें जीवन में अनुपयोगी – सी बन कर रह जाती हैं. यदि स्कूल से बाहर सीखी चीजों को स्कूल में स्थान मिले तो बच्चे और अधिक आत्मविश्वास के साथ सीखने का प्रयास करते हैं।

का कक्षा में अच्छे अंक लाना है फिर चाहे वे किसी भी विधि से प्राप्त किये जाएं। अंकों की भूख ही बच्चों को ट्यूशन और बाजार में पासबुक, कुंजी, साल्व्ड पेपेर्स जैसी शॉर्टकट चीजों को खरीद कर शॉर्टकट रास्ते अपनाने के लिए प्रोत्साहित करती है। ये सब काफी बड़े मुद्दे हैं जिन पर खुल कर बातचीत और समझने की ज़रुरत लगती है और इन गतिविधियों को शिक्षण कार्य में जोड़कर देखने से बच्चों का हो सकता है विषयों के प्रति भी सकारात्मक सोच व रुझान बन पाए।

यूं तो भिन्न-भिन्न राज्यों और जिलों के निजी स्कूलों की भिन्न-भिन्न स्थितियां हैं लेकिन इस पेशे के मूल में यदि देखा जाए तो बच्चों के साथ चहुँमुखी विकास के लिए बेहतर शिक्षण कार्य होना पहली प्राथमिकता है। अनेक राज्यों के साथ-साथ निजी विद्यालय भी समय-समय पर विषयों के अन्दर और सह-शैक्षणिक गतिविधियों में व्यवस्थाओं और गतिविधियों में फेरबदल करते रहते हैं। अब बच्चों के साथ विभिन्न गतिविधियों के माध्यम से शिक्षण कार्य को रोचक बनाने के लिए स्कूलों में कई गतिविधियां तो करवाई जाती हैं लेकिन वे मात्र एक औपचारिक रस्म भर बन कर रह जाती हैं। ऐसे में सीखने का उद्देश्य, उसमें सीखने का आनंद, आत्मनिर्भर होना, एक दूसरे के साथ मिलकर कुछ करना या एक दूसरे से सीखना, कल्पना करना, सृजन करना, प्रतियोगिता मुक्त माहौल और बराबरी के मौके पूरी तरह से गायब होते हैं।

कब ऐसा होगा भारत में जब हर बच्चे को दूध मिलेगा

शिक्षक प्रशिक्षण में शिक्षकों के साथ इन पर चर्चा तो की जाती है लेकिन प्रशिक्षकों और शिक्षकों का इनके प्रति आवश्यक नजरिया नहीं बन पाता है।

बच्चे भी इस बात को जल्दी ही समझ लेते हैं कि ग्रीष्मावकाश के दौरान जो कुछ भी उन्होंने हॉबी क्लासेज में सीखा है उसका स्कूली शिक्षा से कोई लेना - देना नहीं है इसलिए बच्चे कभी इस प्रकार की गतिविधियों का स्कूल में ज़िक्र करते दिखाई नहीं देते हैं। जो चीजें बच्चों को कलाओं से जोड़ती हैं, उन्हें गहराई से अवलोकन करना सिखाती हैं, मिलकर काम करना सिखाती हैं, शब्दों, रंगों और ध्वनियों से खेलना सिखाती हैं। ❑

ए-१०८, रामनगरिया,
जेडीए स्कीम, एसकेआईटी कॉलेज के पास,
जगतपुरा, जयपुर-३०२०१७
मो.-९४१३३७७५९

स्मृतिशेष

इब्राहिम अलकाजी का अवसान



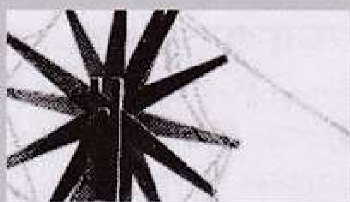
अभी हाल ही में इब्राहिम अलकाजी का देहावसान हो गया। एक बार सदमा लगा, सहसा एक खाली जगह का एहसास हुआ मगर उनकी उम्र और काम दोनों ने ही उस खाली जगह को तुरंत भर दिया। इब्राहिम अलकाजी का जन्म १८ अक्टूबर १९२५ को पुणे महाराष्ट्र में हुआ था। उनके पिता साउदी अरब के रहने वाले थे और मां कुवैत की रहने वाली थी। उन दिनों पिता का कारोबार अच्छा था। संपन्न घर था और सुखी परिवार। देश के आजाद होने के बाद १९४७ में उनका परिवार पाकिस्तान चला गया। मगर अलकाजी के भारत प्रेम ने उनको यहीं बसा दिया। पढ़ाई उनकी महाराष्ट्र में ही हुई। पहले पुणे में और फिर मुम्बई में। सेंट जेवियर कॉलेज से पढ़ाई पूरी करने के बाद वे बॉबी पद्मसी की इंग्लिश थियेटर कम्पनी से जुड़ गये। उसका नाम था थियेटर ग्रुप। फिर वे रॉयल अकादमी ऑफ ड्रामेटिक आर्ट से लंदन जाकर जुड़ गये। कई भाषाओं पर उनका समान अधिकार था। इसलिए लंदन में ही उनको रोजगार के कई अवसर सामने आते दिखे, मगर वे उनको स्वीकार न करके भारत चले आये। मुम्बई में वे बड़े कलाकारों से जुड़े। कलाकारों के समूह का नाम था– बॉम्बे प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट ग्रुप। इस ग्रुप में मकबूद फिदा हुसैन, सूजा, रजा, अकबर पद्मसी, तयैब मेहता आदि कई नामी कलाकार थे।

फिर वे दिल्ली चले आये और यहां नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा के निदेशक हो गये। नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा के निदेशक के रूप में उन्होंने दिल्ली में तहलका मचा दिया। हिन्दी नाटकों की रचनात्मक और प्रभावशाली प्रस्तुति ने पूरे भारत में अलकाजी का नाम रोशन कर दिया। यहां उनके साथ प्रशिक्षण के लिए जो लोग आये उनमें विजया मेहता, ओम शिवपुरी, हरपाल टिवाणा, उत्तरा बावकर, नसीरूद्दीन शाह, मनोहर सिंह, रोहिनी हटंगनी आदि कई कलाकार शामिल थे। अपनी पत्नी रोशन अलकाजी के सहयोग से उन्होंने दिल्ली में आॅर्ट हैरिटेज गैलेरी की स्थापना भी की। ❑

राजस्थान से रिश्ता

अलकाजी का १९६६ में राजस्थान से भी एक रिश्ता जुड़ा था। शिक्षा विभाग की एक त्रैमासिक पत्रिका 'नया शिक्षक' ने कला शिक्षा पर एक विशेषांक निकाला। इसका कवर डिजाइन अलकाजी ने किया था। संभवतया किसी मैगजीन का कवर डिजाइन अलकाजी ने पहली और अंतिम बार किया होगा। नया शिक्षक के संपादक थे शिवरतन थानवी। वे भी आज नहीं रहे और अलकाजी भी हमारे बीच नहीं हैं। कवर का चित्र नीचे दिया जा रहा है। जो कला विवेचना करते है वे लोग ही बता सकते है कि यहां गहरे हरे रंग पर अकाजी ने गहरे लाल रंग से तीन तूलिकाएं क्यों बनाई थीं! ❑







❑

तराने जिनकी गूंज आज तक सुनाई देती है

आजादी का आंदोलन चल रहा था। पूरे भारत में गांव–गांव में लोग जाग्रत हो गये थे। अंग्रेज सरकार से केवल आजादी नहीं लेनी थी बल्कि हमें अपनी खुद की जड़ों से जुड़ी सड़ी–गली रूढ़ियों से आजादी लेनी थी। समता का राज लाना था। सत्य का स्वराज लाना था। आदमी और आदमी के बीच का भेद मिटाना था। राम नाम हर प्रार्थना सभा में लिया जाता था। मगर राम नाम का रास्ता रैदास बता गये थे– 'जो राम नाम कहि गावेगा, सो भेद अभेद मिटावेगा।' हमें भेद–अभेद के समाज से मुक्ति पानी थी। इसे पूरे देश की जनता अच्छी तरह समझ गई थी। तराने लिखे जा रहे थे। गांव गली में गाये जाते थे। उन्हीं तरानों की बानगी पेश है।

आजादी के तराने

झण्डा ऊंचा रहे हमारा

विजयी विश्व तिरंगा प्यारा। झण्डा ऊंचा रहे हमारा।।

सदा शक्ति सरसाने वाला। प्रेम सुधा बरसाने वाला।।

वीरों को हरषाने वाला। मातृ–भूमि का तन–मन सारा।।

शान न इसकी जाने पाये। चाहे जान भले ही जाये ।।

विश्व विजय करके दिखलाये। तब होवे प्रण पूर्ण हमारा।।

विजयी विश्व तिरंगा प्यारा। झण्डा ऊंचा रहे हमारा।

रूके न जो

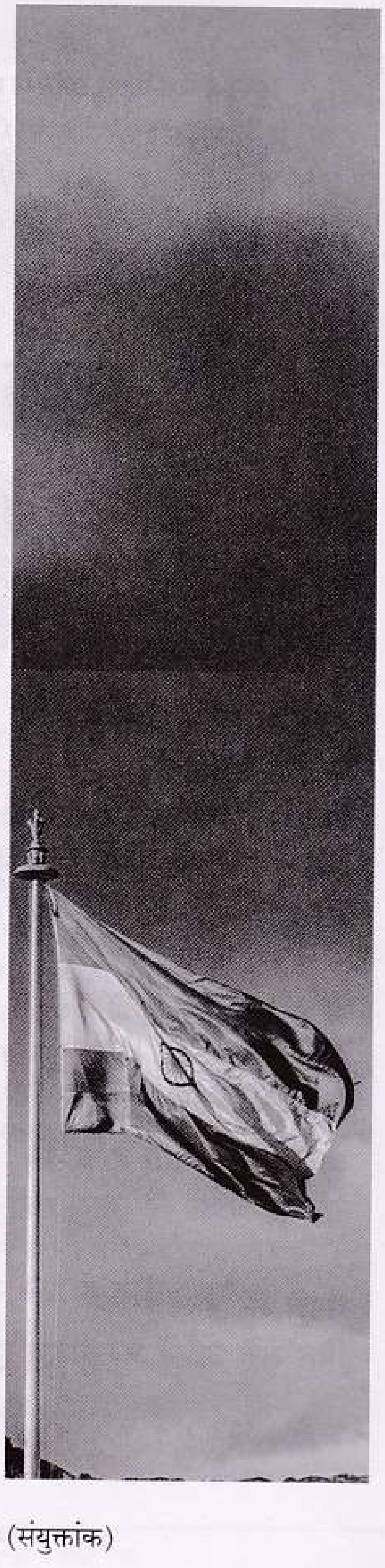
रूके न जो, झुके न जो, दबे न जो, मिटे न जो,
हम वो इंकलाब हैं, जुल्म का जवाब हैं।
हर शहीद का गरीब का हमी तो ख्वाब हैं।।

लड़ रहे हैं इसलिए कि, प्यार जग में जी सके
आदमी का खून, कोई आदमी न पी सके।
मालिकों, मालिकों मजदूर के, नौकरों हजूर के फर्क को
मिटायेंगे, समानता को लायेंगे।।

मानते नहीं है फर्क हिन्दू-मुसलमान का
जानते हैं रिश्ता इंसान से इंसान का
धर्म के, धर्म के, देश के भाषा और भेष के
द्वन्द्व का मिटायेंगे और एकता को लायेंगे।।

मानते नहीं हैं हुक्म जुल्मी हुक्मराम का
युद्ध आज चल रहा है आदमी हैवान का
सत्य की, सत्य की संभाल ढाल अहिंसा की ले मशाल
एकता के जोर पर हर जुल्म से लड़ जायेंगे।।

–रामगोपाल दीक्षित



कुछ समय पहले ओम ने मुझे नाजिम हिकमत की एक कविता 'लिटल गर्ल' भेजी थी, जो उसे अनुवाद योग्य लगी। मैंने इसका अनुवाद कर दिया तो ओम ने उसे फेसबुक पर दे दिया। प्रतिक्रिया खूब व्यापक रही। कई ब्लॉग आदि पर साझा हुई आज मालूम चला कि एक जापादी ब्लॉग ने इसे मेरे नाम से देकर इसका जापानी अनुवाद और तुर्की मूल भी दे दिया है। हिन्दी अनुवाद इस तरह था...

एक शिक्षाविद् की डायरी से

११ जनवरी, २०१३

नन्ही लड़की
(हिरोशिमा कन्या)

दरवाजों पर मैं आपके
दस्तक दे रही हूं
कितने ही द्वार खटखटाए हैं मैंने
किन्तु देख सकता है कौन मुझे
मरे हुओं को कोई कैसे देख सकता है ?

मैं मरी हिरोशिमा में
दस वर्ष पहले
मैं थी सात बरस की
आज भी हूं सात बरस की
मरे हुए बच्चों की आयु नहीं बढ़ती।

पहले मेरे बाल झुलसे
फिर मेरी आंखें भस्मीभूत हुई
राख की ढेरी बन गई मैं
हवा जिसे फूंक मार उड़ा देती है।

अपने लिए मेरी कोई कामना नहीं
मैं जो राख हो चुकी हूं
जो मीठा तक खा नहीं सकती।

मैं आपके दरवाजों पर
दस्तक दे रही हूं
मुझे आपके हस्ताक्षर लेने हैं।
ओ मेरे चाचा ! ताऊ !
ओ मेरी चाची ! ताई !

ताकि फिर बच्चे इस तरह न जलें।
ताकि फिर वे कुछ मीठा खा सकें।

अलविदा!
मुकुन्द भाई



६ तारीख की शाम को खबर लगी कि मुकुन्द भाई नहीं रहे। सदमा तो लगना ही था। मगर ऐसी आशंका से मैं पिछले तीन महिनों से घिरा हुआ था। कोरोना काल की घोषणा से पहले उनके घर जाकर मिल आया था। सिरहाने, पास बैठकर सदा की तरह थोड़ा सा मधुर संवाद हुआ था। नीरजा जी ने खजूर के गुड़ से बना संदेश भी परोस दिया था। सब कुछ मधुर था। मद्धम-मद्धम। मुकुन्द भाई सुर में ही रहते थे सदा। बीमारी थी, शैयाग्रस्त थे मगर बेसुरा कुछ नहीं था।

उनसे एक लंबी बात करने की बात करके मैं लौट आया था। तय हो गया था कि मुकुन्द भाई दस-दस मिनिट ही बोलेंगे, मगर हम पांच-छह किश्तों में उनके साथ एक संवाद करेंगे। मैंने कहा था कि मैं एक अच्छा नौजवान फोटोग्राफर साथ लाऊंगा। पूरे ताम-झाम के साथ। आशंका मुकुन्द भाई के मन में थी मगर उन्होंने किसी आसन्न अवसान को देखते हुए भी हां कहा था। मैं भी आश्वस्त होकर लौट आया था।

जैसी शंका थी वैसा ही हुआ कि वह संवाद नहीं हो सका और मुकुन्द भाई चले गये। जाना तो क्या कहूं? मैं कहना चाहता हूं और मैं कहूंगा। मेरे लिए तो मुकुन्द भाई रहेंगे अपनी किताबों के साथ, अपने सुर के साथ, अपनी कविताओं के साथ और अपने गवेषणात्मक निबंधों के साथ। उस दिन न मालूम क्या हुआ कि मुकुन्द भाई अपनी लिखी सारी किताबें मुझे भेंट कर देना चाहते थे। बार-बार अमुक-अमुक किताब लाने के लिए नीरजा को कह रहे थे और मुझे बीच-बीच में कहना पड़ता था- यह तो मेरे पास है। फिर भी मैं कई किताबें लेकर लौटा था।

मुकुन्द भाई जन्में थे बंगाल में १९३७ में। दिल्ली विश्वविद्यालय से अंग्रेजी साहित्य में एम.ए. करने के बाद जादवपुर विश्वविद्यालय से संस्कृत में डिग्री लेकर राजस्थान विश्वविद्यालय में आ पहुंचे थे। यहां उन्होंने इतिहास और भारतीय संस्कृति का अध्यापन किया और १९९७ में सेवानिवृत्त हो गये। अध्यापन तो सिर्फ एक अनुराग था उनका। साथ ही वे संगीत में डूब गये थे। सांस्कृतिक अध्ययन में गहरे उतर गये थे। पंडित जसराज के साथ शास्त्रीय संगीत गाने भी लगे थे। उनसे मिलकर मुझे सदा ऐसा लगता रहा कि वे संगीत को भी काव्य की तरह जीते हैं। कविता उनके बहुत करीब थी। कई किताबें उन्होंने लिखीं मगर उनको सूचीबद्ध करने का यह समय नहीं है। यह समय तो उनकी तपस्या को प्रणाम करने का है। वे अपनी सारी सृजनात्मकता के साथ सदा हमारे साथ रहेंगे। आदाब मुकुन्द भाई। अलविदा! ❑

-रमेश थानवी

स्वत्त्वाधिकारी राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति द्वारा कुमार एंड कम्पनी, जयपुर में मुद्रित तथा
७-ए, झालाना संस्थान क्षेत्र, जयपुर-३०२००४ से प्रकाशित। संपादक - रमेश थानवी

